के दर्शनों के कारण उदित हुई थीं। प्लेटो ने ऐसे शुद्ध प्रत्ययों को ही सत् माना था जो केवल शुद्ध बुद्धि से ही ग्राह्य होते हैं और इन्द्रिय ग्राह्य विषयों को उनकी प्रतिच्छाया मात्र माना था। इन शुद्ध आकारों की सत्ता अरस्तू ने भी मानी थी, हालांकि उनका विचार इस विषय में प्लेटो से बहुत भिन्न था। परन्तु यह बात कि जगत् के प्रत्येक इन्द्रियग्राह्य विषय का एक शुद्ध आकार या तत्त्व होता है जो बुद्धि से ग्रहण किया जा सकता है और जिसको जानने पर ही उस विषय का सत्य ज्ञान होता है, प्लेटो और अरस्तू दोनों को ही मान्य था। यह बात मध्ययुगीन दर्शन में इस प्रकार रखी गयी कि जगत् की सृष्टि से पूर्व जगत् की वस्तुओं के शुद्ध तत्त्व ईश्वर की चेतना में विद्यमान थे या नहीं? इसी प्रकार इसी से मिलती-जुलती एक अन्य समस्या यह थी कि यदि सृष्टि जैसी कोई चीज है तो जो भी सृष्ट है उसकी सत्ता पूर्ण रूप से आकस्मिक है क्योंकि बिना ईश्वर के संकल्प के उसकी सत्ता हो ही नहीं सकती। तो एक प्रकार से वह स्वयं में शून्य मात्र ही है। इसके विपरीत ईश्वर की सत्ता अनिवार्य है क्योंकि वह किसी अन्य पर आश्रित नहीं है। परन्तु कोई भी सत्ता अनिवार्य हो सकती है, इस बात को लेकर मध्ययुग के दर्शन में बहुत चिन्तन हुआ और इस संकलन में इन विशिष्ट प्रश्नों पर कुछ प्रकाश डाला गया है। परन्तु चूँकि यह प्रथम प्रयास है, इसलिए इसमें बहुत-सी न्यूनताएँ रहना स्वाभाविक है। मध्ययुग को तो वह महत्त्व और स्थान इस संग्रह में नहीं मिल पाया, जो उचित था और जो ग्रीक युग को मिला। इसका कारण यही है कि हमारे देश के विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में इस युग को कोई स्थान नहीं दिया गया और परिणामत: इस युग के दर्शन से परिचित अध्यापक बहुत कम हैं। किन्तु हमें आशा है कि इस संकलन के थोड़े से लेख भी इस युग के बारे में कम से कम कुछ जिज्ञासा हमारे अध्यापकों और विद्यार्थियों में उत्पन्न करेंगे।

❑

पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग : एक विहंगम दृष्टि (डेकार्ट से बर्गसाँ तक)

पश्चिमी दर्शन के इतिहास का आधुनिक युग प्राय: डेकार्ट से प्रारम्भ हुआ समझा जाता है। परन्तु गहराई से देखने पर ऐसा लगेगा कि यह वास्तव में उस नई दृष्टि से प्रारम्भ होता है जिसने ज्ञान को देखने की दिशा में एक नई दृष्टि उत्पन्न की। यह दृष्टि गेलीलियो और बेकन के नाम से सम्बन्धित है। इसने न केवल इन्द्रियानुभूति को ही ज्ञान का आधार माना परन्तु ज्ञान की खोज के लिए एक ऐसी विधि पर ज़ोर दिया जो मनुष्य के किसी विषय के बारे में परिकल्पित ज्ञान को परख सके। इस प्रकार इन्द्रियानुभूति ज्ञान का स्रोत न होकर केवल एक कसौटी ही सिद्ध हुई। वह एक प्रकार का ऐसा न्यायालय थी जिसमें किसी भी विषय के ज्ञान के बारे में विभिन्न मतों के बीच फैसला हो सकता था। केवल तर्क या बुद्धि के सहारे ही ज्ञान की प्राप्ति नहीं की जा सकती। ज्ञान को ज्ञान होने के लिए इन्द्रियानुभव के क्षेत्र में अपने को सिद्ध करना पड़ता है।

दूसरी ओर, पश्चिमी दर्शन के इतिहास में जिसे आधुनिक युग कहते हैं वह पश्चिमी सभ्यता के इतिहास के वैशिष्ट्य से भी सम्बन्धित है और वह यह कि ईसाई धर्म के प्रभुत्व के स्थापित होने के बाद सत्य के बारे में यह निश्चित हो चुका था कि जो कुछ बाइबिल में है, वह ही चरम सत्य है, और उस पर सन्देह करना पाप है। जो स्वयं ईश्वर ने कहा है वह कैसे गलत माना जा सकता है। इस सन्दर्भ में अवश्य डेकार्ट एक प्रकार से आधुनिक युग के प्रतीक हैं, क्योंकि उन्होंने सार्वभौमिक सन्देह-विधि को अपनाया ही नहीं परन्तु उसको वह रूप दिया जो आज सबकी बपौती बन चुका है। उन्होंने यह कह कर आधुनिक युग का श्रीगणेश किया कि जिस किसी पर भी सन्देह किया जा सकता है, उस पर सन्देह करना चाहिए और ज्ञान की भव्य इमारत की आधारशिला केवल ऐसे ही आधार-वाक्यों पर बनाई जा सकती है जिन पर सन्देह किया ही नहीं जा सके और उन्होंने यह भी स्पष्ट किया जैसे ही सन्देह की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है तो शायद ही कोई ऐसी चीज़ बची रहती है जिसके विषय में सन्देह किया ही नहीं जा

सके। सामान्य विश्वास विश्वास मात्र ही है, क्योंकि यह तो सबको पता ही है कि कभी न कभी हम स्वयं या अन्य कोई उसके विषय में धोखा खा चुके हैं या खा सकते हैं और ज्ञान को इस प्रकार सन्देह की दृष्टि से देखने पर उनको कोई भी ज्ञान सन्देह से रहित प्रतीत न हुआ और तभी उनको ऐसा लगा कि यह ठीक मानने पर भी कम से कम जो व्यक्ति सन्देह कर रहा है उस सन्देह पर तो सन्देह नहीं किया जा सकता क्योंकि सन्देह पर सन्देह करना उस सन्देह की पुनरावृत्ति मात्र है और इस प्रकार कम से कम यह तो कहा ही जा सकता है कि सन्देह की प्रक्रिया है, और यदि हम यह मानें कि कोई क्रिया या विचार स्वयं में अस्तित्वमान नहीं हो सकता, तो यह मानना पड़ेगा कि कोई सन्देह करता है। इसी को उन्होंने अपने प्रसिद्ध वाक्य ''मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ'' में कहा है। आधुनिक दर्शन की सुदृढ़ नींव इस वाक्य में पाई जा सकती है; क्योंकि यदि चेतना का प्रत्येक विषय मूलभूत सन्देह की दृष्टि से देखा जा सकता है तो एक प्रकार से सारा जगत्, यहाँ तक कि विषय रूप में मैं स्वयं, सन्देह से ग्रसित है और केवल चेतना या दृष्टा जिसके लिए ये सब विषय हैं, वही सन्देह से मुक्त एकमात्र सत्य है।

एक प्रकार से ऐसी ही बात सांख्य दर्शन में भी की गई है जहाँ पुरुष केवल दृष्टा-मात्र है और जो कुछ भी विषय रूप में प्राप्त होता है चाहे फिर वह प्रत्यक्ष हो या मनस, बुद्धि हो या कर्म की भावना सब प्रकृति के अंश हैं, फिर चाहे स्थूल हों या सूक्ष्म। डेकार्ट के विचार ने सांख्य का रूप तो नहीं लिया; इसके कारण अनेक हो सकते हैं। परन्तु एक कारण शायद यह भी था कि सांख्य का द्वैत सन्देह पर आश्रित नहीं है और वह जगत् को या प्रकृति को उतना ही सच मानता है जितना कि पुरुष को।

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि डेकार्ट ने जो सन्देह की प्रक्रिया प्रत्येक विषय के सन्दर्भ में की है, वह क्या विषय की प्रतीति पर भी की जा सकती है, जो मुझे दिखता है, वह लाल है, इस पर सन्देह किया जा सकता है, क्योंकि अनेक बार जो प्रत्यक्ष का विषय है उसके बारे में मुझे भ्रम हुआ है। परन्तु कोई यदि ऐसा कहे कि जो मुझे दिखता है, ''वह लाल प्रतीत होता है'', तो क्या वह तब भी सन्देह का विषय हो सकता है? क्या इस प्रकार के अनुभूत विषय नहीं हैं जिनमें प्रतीति और सत्य में एक प्रकार से तादात्म्य है। उदाहरण के लिए कोई यदि यह कहे कि कि उसे दर्द हो रहा है तो यदि वह धोखा नहीं दे रहा है तो क्या यह मानना नहीं पड़ेगा कि उसे वास्तव में दर्द हो रहा है? पीड़ा की प्रतीति और पीड़ा का सत् क्या एक ही चीज़ नहीं है। डेकार्ट ने इस प्रश्न को इस रूप में तो नहीं उठाया परन्तु जहाँ तक पहला प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यदि यह मान भी लें कि जो प्रतीति हो रही है उस पर सन्देह नहीं किया जा सकता, तब भी उसके विषय में कम से कम दो बातें तो कही ही जा सकती हैं : एक तो यह, कि उसमें कोई अनिवार्यता नहीं है, जो प्रतीत हो रहा है उससे भिन्न

भी प्रतीत हो सकता था। यदि लाल दिखाई दे रहा है तो यह कोई आवश्यक नहीं कि लाल ही दिखाई दे, अन्य रंग की प्रतीति भी हो सकती थी। दूसरी बात इस सन्दर्भ में यह भी सदैव उठाई जा सकती है कि प्रतीति के विषय को पहचानना एक प्रकार से उसका वर्गीकरण करना है और इस वर्गीकरण के गलत होने की हमेशा आशंका हो सकती है। क्योंकि यह भाषा के सीखने पर और उसके सही प्रयोग पर निर्भर करता है। जिन लोगों को रंग दिखाई नहीं देते या जिनको अंग्रेजी में रक्तांध (कलर ब्लाइण्ड) कहते हैं वे भी अधिकतर रंग से सम्बन्धित वाक्यों का प्रयोग ठीक-ठीक ही करते हैं। अब यदि परीक्षण से यह सिद्ध किया जा सकता है कि उन्हें रंग का उस रूप में प्रत्यक्षानुभव नहीं हो रहा है और न हो सकता है, जिस प्रकार उन मनुष्यों को होता है जिनको रंगों का संवेदन ठीक-ठीक होता है, तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनका भाषा के माध्यम से अपने अनुभव का वर्गीकरण गलत है। डेकार्ट के चेतना या आत्म-सम्बन्धी प्रमाण के मूल में इसलिए यह भी निहित है कि उसी सत् को अकाट्य रूप में सत् माना जा सकता है जिस पर सन्देह असम्भव हो यानि उसका निषेध करने पर भी उस सत्य की पुनरावृत्ति हो। सन्देह पर सन्देह करना एक प्रकार से सन्देह की पुनर्स्थापना ही है।

यदि ध्यान से देखें तो सत्य का यह मानदण्ड़ उससे भिन्न है जो यह कहता है कि अनिवार्य सत्य वही है जिसका निषेध आत्मव्याघाती होता है। यह निषेध आत्मव्याघाती नहीं है, क्योंकि यहाँ निषेध की असम्भाव्यता आत्म के चित् स्वरूप होने से सम्बन्धित है। कहने का आशय यह है कि चेतना स्वयं अपना निषेध करने में समर्थ नहीं है।

इस प्रकार डेकार्ट का दर्शन जहाँ स्वचेतन आत्म को दर्शन का केन्द्र बिन्दु बनाता है वहीं वह जगत् और चेतना के बीच एक ऐसे द्वैत का निर्माण करता है जिसमें आधुनिक दर्शन की सुदृढ़ जड़ें स्थापित हैं। यदि आत्म का गुण चेतना या विचार है, तो जो विषय रूप जगत् है उसका गुण, उसके अनुसार, विस्तार है और दोनों के बीच सम्बन्ध की समस्या एक प्रकार से बनी रहती है।

डेकार्ट ने अपने विचार क्षेत्र में, या चेतना के विषय के सम्बन्ध में, एक ऐसे विचार को प्रधानता दी जिसके आधार पर उसने सन्देह के इस चक्र-व्यूह से निकलने की कोशिश की और वह था एक ऐसी पूर्ण सत्ता का विचार जिसको हम 'ईश्वर' कहकर सम्बेधित करते हैं। यह विचार चूँकि पूर्ण सत् का है इसलिए डेकार्ट की राय में इसमें स्वयं अस्तित्व छिपा हुआ है, क्योंकि यदि पूर्ण सत् अस्तित्ववान न हो तो वह पूर्ण कैसे हो सकता है। इसलिए 'ईश्वर' केवल विचार मात्र ही नहीं है; उसका अस्तित्व है और उसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। ईश्वर और आत्मा दोनों के बारे में ही यह सच है कि उनके विचार में ही उनकी सत्ता निहित है। डेकार्ट के दर्शन में ईश्वर के सम्बन्ध में तो यह बात सर्वविदित है, किन्तु यह कम लोगों ने ही देखा है कि आत्म के सम्बन्ध में भी उसका प्रमाण

काफी हद तक वैसा ही है। अंग्रेजी में जिसको आन्टोलोजीकल आर्गूमेन्ट (Ontological Argument) कहते हैं, वह विचार-मात्र से उसकी सत्ता को सिद्ध करता है जिसका वह विचार है और यह बात आत्म और ईश्वर दोनों के लिए सत्य है। भेद केवल यह है कि आत्म की सत्ता की अनुभूति होती है जबकि ईश्वर साधारण अर्थ में अनुभूति का विषय नहीं है; वह केवल विचार का विषय है।

डेकार्ट ने अपने तर्क में यह भी माना कि ईश्वर के विचार का कारण मैं स्वयं नहीं हो सकता, क्योंकि मैं स्वयं अपूर्ण हूँ और कार्य में उससे अधिक सत्व नहीं हो सकता, जितना कि कारण में होता है। इस आधार पर भी उसने ईश्वर की स्वतन्त्र सत्ता को स्थापित करने की चेष्टा की। इस सन्दर्भ में भी यह विचार योग्य बात है कि उसने यह न सोचा कि आत्म की अपूर्णता का विचार भी भ्रमपूर्ण हो सकता है। भारतीय दर्शनों में तो आत्म को अपूर्ण मानना ही अविद्या का लक्षण माना जायेगा, क्योंकि अपूर्ण वही हो सकता है जो विषय-रूप हो और क्योंकि न आत्मा, न ईश्वर विषय रूप में उपस्थित होते हैं इसलिए दोनों के विषय में सीमित होने या अपूर्ण होने की बात करना व्यर्थ है। दूसरी ओर, 'सीमित होने' और 'अपूर्ण होने' में भी भेद करने की आवश्यकता है। पूर्णता या अपूर्णता एक मूल्यात्मक विधेय है जबकि सीमित-असीमित होना एक प्रकार से परिमाणात्मक है, और अधिकतर ऐसा माना जाता है कि सब प्रकार की वस्तुओं के सन्दर्भ में परिमाण की बात करना उचित नहीं होता।

डेकार्ट की यह मान्यता कि कार्य कारण से अधिक सत् नहीं हो सकता वास्तव में ठीक प्रतीत नहीं होती। यह एक प्रकार से उसी निगमनात्मक तर्कशैली की पूर्व मान्यता पर आधारित प्रतीत होती है जिसमें यह कहा जाता है कि निष्कर्ष में आधार वाक्यों से अधिक कुछ नहीं होना चाहिए और यदि ऐसा है तो निगमन की क्रिया को अवैध मानना होगा। परन्तु कार्य-कारण सम्बन्ध तो कोई निगमनात्मक प्रक्रिया नहीं है और आज तो निगमनामक प्रक्रिया में भी कम या अधिक की बात इतनी स्पष्ट नहीं है जितनी कि पहले मानी जाती थी। उदाहरण के लिए अधिकांश व्यक्ति यह स्वीकार करेंगे कि p or q का वाक्य केवल p वाक्य से कुछ अधिक ही कहता है परन्तु p से p or q का निगमन पूर्णतया वैध माना जाता है। इस उदाहरण से कोई यदि पूर्णतया सन्तुष्ट न भी हो, तो भी यह तो स्पष्ट ही है कि डेकार्ट ने आत्म की असंदिग्धता और ईश्वर की असंदिग्धता में एक मूलभूत भेद किया जिसका महत्त्व उसने स्वयं नहीं देखा। आत्म जिस अर्थ में असंदिग्ध है, उस अर्थ में ईश्वर असंदिग्ध नहीं है और जिस अर्थ में ईश्वर की सत्ता उसके विचार में ही निहित है उसी अर्थ में आत्म के विचार में भी उसकी सत्ता निहित है।

डेकार्ट के परवर्ती दार्शनिकों ने डेकार्ट के आत्म या ईश्वर सम्बन्धी प्रमाणों पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। इसके विपरीत चेतन और जड़ के बीच जिस

मूलभूत भेद की बात उसने की और उनके बीच के सम्बन्ध की समस्या जो उसने उठाई, वे उससे ही उलझे रहे। एक प्रकार से यह बात दर्शन के विकास में आकस्मिकता की ओर संकेत करती है। किसी दार्शनिक के विचार का वह कौनसा पहलू होता है जिस पर परवर्ती दार्शनिक ध्यान देते हैं और जिसको वे आगे बढ़ाने की कोशिश करते हैं, यह उनकी अपनी उस दृष्टि पर निर्भर करती है, जो एक प्रकार से उस समय की सम-सामयिक समस्याओं से जुड़ी रहती है। डेकार्ट के जड़ और चेतन में मूलभूत भेद की बात को एक प्रकार से परवर्ती दार्शनिकों ने स्वीकारा और उनके सम्बन्ध की समस्या को ईश्वर या किसी ऐसे अन्य मूल तत्त्व द्वारा सुलझाने की कोशिश की जो स्वयं दोनों से परे था। वास्तव में इस समस्या के दो रूप हैं : एक यह कि परस्पर विरोधी या मूलत: भिन्न गुणों वा वस्तुओं में किसी प्रकार का कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं हो सकता। दूसरा यह कि यदि ईश्वर या किसी एक मूलभूत द्रव्य को माना जाए तो वास्तव में कार्य-कारण प्रक्रिया का मूल कारण या मूल स्रोत भी उसको ही मानना पड़ेगा। अन्य सब कारण तो केवल आगन्तुक रूप में ही कारण समझे जा सकते हैं। पहली पूर्व मान्यता के आधार के लिए कोई विशेष तर्क नहीं दिया गया है। यह केवल एक पूर्व मान्यता ही लगती है कि किन्हीं दो चीज़ों के बीच में सम्बन्ध उनके बीच में किसी प्रकार के सादृश्य को पूर्व मान्य करती है।

भारतीय परम्परा में यह बात सांख्य दर्शन के सन्दर्भ में पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध में कही गई है। प्रकृति एक प्रकार से जड़ और विषय रूप दोनों है, हालांकि उसे जड़ कहने की बजाय यदि विषय कहें तो अधिक ठीक होगा। परन्तु यदि दो चीज़ें दो हैं, तो उनके बीच सादृश्य को मानना होगा और यदि हम यह मानते हैं कि जहाँ भेद है वहाँ सम्बन्ध नहीं होगा तो यह निष्कर्ष निकालना पड़ेगा कि कोई दो चीज़ें यदि वे दो हैं तो उनके बीच सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। पर इस तरह तो इस सन्दर्भ में जड़ पदार्थों के बीच या चेतन पदार्थों के बीच भी सम्बन्ध की समस्या बनी रहेगी। ऐसा स्पष्ट नहीं है कि डेकार्ट ने एक-धर्मी पदार्थों के बीच होने वाले कार्य-कारण सम्बन्ध या किन्हीं अन्य सम्बन्धों के बारे में किसी कठिनाई को अनुभव किया। विशेष रूप में विभिन्न चेतन पदार्थों के बीच सम्बन्ध के विषय में उसने विवाद उठाया या नहीं यह कहना मुश्किल है, क्योंकि दो चेतन सत्ताओं के बीच में साधारणत: सम्बन्ध, यदि ईश्वर को छोड़ दें, तो जड़ शरीर के माध्यम से ही होता है। यदि हम यह नहीं मानें कि चेतनाओं के बीच में सदैव सीधा सम्बन्ध होता है, तो चेतन पदार्थों के बीच में सम्बन्ध की समस्या और जड़ पदार्थों के बीच में सम्बन्ध की समस्या में एक मूलभूत अन्तर रहेगा। परन्तु दर्शन के इतिहास में ऐसा नहीं लगता कि यह अन्तर स्पष्ट रूप से देखा गया है।

डेकार्ट के परवर्ती दार्शनिक या तो ईश्वर को जड़ और चेतन के बीच सम्बन्ध का आधार मानते हैं या और भी गहरे रूप में, प्रत्येक कार्य-कारण

शृंखला का, चाहे वह जड़ वस्तुओं के बीच में हो या चेतन वस्तुओं के बीच में या उन दोनों के बीच में, ईश्वर को ही मानते हैं। केवल ईश्वर में ही एक कारणात्मक या क्रियात्मक शक्ति है। संयोगवादी दार्शनिक और उनके बाद स्पिनोज़ा, लाइब्निज़ आदि ने इस सम्बन्ध को समझने की चेष्टा की।

स्पिनोज़ा ने द्रव्य रूप सत् की धारणा को अधिक स्पष्ट करते हुए बताया कि इस धारणा में ही यह निहित है कि ऐसा सत् एक ही हो सकता है, दो या दो से अधिक नहीं। अगर सत् की धारणा को हम इस प्रकार मानें कि "वह यह है जिसका आधार उसके स्वयं के अन्दर है," तो इस विचार में ही यह निहित है कि ऐसा द्रव्य सत् एक ही हो सकता है, क्योंकि यदि हम एक से अधिक की कल्पना करेंगे तो वह एक-दूसरे से सम्बन्धित होंगे, कम से कम इस रूप में कि एक-दूसरे से भिन्न हैं और इसलिए एक को समझने में दूसरे के सन्दर्भ को अनिवार्य रूप से लाना पड़ेगा। स्पिनोज़ा ने सत् का अन्य लक्षण भी बताया है, जैसे कि द्रव्य सत् वह है, जो स्वयं अपने आप द्वारा ही पूर्ण रूप से समझा जा सके, यानि, जिसको समझने के लिए किसी अन्य की अपेक्षा न हो। यहाँ दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। पहली यह कि क्या यहाँ हमारे सत् को समझने के सन्दर्भ में बात की जा रही है या स्वयं उस सत् के बारे में ही कुछ कहा जा रहा है। एक प्रकार से समझने की बात पर जोर दें तो समझने वाला कोई अन्य होगा और जिसे समझा जायेगा वह उससे भिन्न कोई दूसरा और। इस प्रकार परिभाषा में ही द्वैत की स्थापना हो जायेगी। दूसरी ओर यदि हम यह कहें कि चरम द्रव्य सिर्फ वही है जिसका आधार उसमें स्वयं है, यानि जिसको हम स्वयंभू कहते हैं, तो यह निष्कर्ष नहीं निकलेगा कि ऐसे द्रव्य-सत् अनेक नहीं हो सकते। परिभाषा के इस दूसरे रूप को आधार बनाकर ही बाद में लाइब्निज़ ने अनेक द्रव्य-सत् की कल्पना की और कहा कि यदि हम चरम सत् को चित् रूप में देखें या वह जिसका देश से कोई सम्बन्ध नहीं है तो स्पिनोज़ा की परिभाषा से यह निगमित नहीं होता कि ऐसा सत् एक ही हो सकता है, अनेक नहीं। इस प्रकार की द्रव्य सत की कल्पना उसने अपने मोनेड के प्रसिद्ध प्रत्यय में की।

स्पिनोज़ा ने चूँकि चरम द्रव्य-सत् को एक ही माना था इसलिए उसने विस्तार और विचार को इसके दो अनन्त गुणों के रूप में देखा, जिनके स्वयं अनन्त विशिष्ट पर्याय हैं। चूँकि जड़ और चेतन दिखा देने वाली प्रकियाएँ एक ही मूल सत् की दो विशिष्ट विधाएँ हैं इसलिए उसके अनुसार जो चेतन-सत् में अभिव्यक्त होता है, वही दूसरे जड़-रूप में भी अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार हालांकि जड़ और चेतन के बीच कोई कार्य-करण सम्बन्ध नहीं है, तब भी एक प्रकार से वह एक-दूसरे को स्वतन्त्र रूप में प्रतिबिम्बित करते हैं। यह स्वतन्त्र प्रतिबिम्ब का सिद्धान्त बाद में लाइब्निज़ में भी मिलेगा।

द्रव्य रूप सत् की कल्पना का विचार पश्चिमी दर्शन में अनेक रूपों में मिलता है। एक प्रकार से सत्ता मीमांसा की यह मूलभूत समस्या रही है। यदि एक से अधिक चरम द्रव्य-सत् मानें तो उनके बीच सम्बन्ध की समस्या होती है और यदि केवल एक ही द्रव्य-सत् की कल्पना की जाये तो जगत् के वैविध्य की समीक्षा कठिन हो जाती है। इस सन्दर्भ में लाइब्निज़ ने एक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने की चेष्टा की। उसने ऐसे अनन्त द्रव्य-सत् की कल्पना की जो एक-दूसरे से पूर्णरूप से भिन्न है और जिनका एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध भी नहीं है। यह कल्पना एक प्रकार से दर्शन के इतिहास में अनूठी है। लाइब्निज़ ने द्रव्य-सत् को चेतना के बिन्दुओं के रूप में कल्पित किया और चूँकि चेतना में भेद केवल स्पष्टता से प्रतिबिम्बित करने के आधार पर ही हो सकता है, इसलिए इन अनेक सत्ताओं में भेद उसने स्पष्टता के सन्दर्भ में ही माना। परन्तु यदि भेद केवल इतना ही है तो जो इन अनेक प्रकारों से प्रतिबिम्बित होता है वह तो एक ही रहता है, केवल उसके प्रतिबिम्बित होने की स्पष्टता के द्वारा ही विविधता उत्पन्न होती है।

परन्तु प्रतिबिम्बित क्या है, यह प्रश्न यदि उठाया जाये तो लाइब्निज़ के मत के अनुसार यही कहना होगा कि चेतना स्वयं अपने में ही प्रतिबिम्बित होती है। चेतना में स्वयं दो गुण विद्यमान हैं। एक क्रिया रूप में; दूसरा ग्रहण करने, जानने, भोगने आदि के रूप में। परन्तु यह दोनों चेतना के ही दो पक्ष हैं। स्वयं चेतना जिसका सृजन करती है उसको ही विषय रूप में अनुभूत करती है। इस प्रकार से अस्तित्व की विभिन्नता चेतना की विभिन्नता के सापेक्ष है और इस क्रम में यह मानना पड़ता है कि ऐसी चेतना जरूर होगी जो पूर्णतः स्पष्ट है यानि जिसका कृतत्त्व और विषय पक्ष अपनी चरम सीमा पर है और वास्तव में इसी को हम ईश्वर कहते हैं।

ऐसा हो सकता है कि यहाँ इस प्रकार से लाइब्निज़ को समझना उसके मत से बिल्कुल शत-प्रतिशत मेल न खाता हो, परन्तु इस पर सन्देह नहीं किया जा सकता कि जो कुछ उसने कहा है, उसको बोधगम्य बनाने में यह सहायक अवश्य होता है। बाद में बर्कले ने यह माना कि केवल चेतना में ही कृतत्त्व शक्ति है और चेतना ही कृतत्त्व शक्ति से जो विचार उत्पन्न करती है उनको ही वह विषय रूप में ग्रहण करती है। इसलिए वास्तव में चेतना में स्वतन्त्र जड़ वस्तु का कोई अस्तित्व ही नहीं है, जो विषय-रूप है वही एक प्रकार से जड़ कहा जा सकता है। इस सन्दर्भ में बर्कले और लाइब्निज़ एक प्रकार से एकमत ही हैं, हालांकि दर्शन के इतिहासकारों ने इस साम्य को नहीं देखा है। यह अजीब सी बात है कि दर्शन की परम्परा में बर्कले को अनुभववादी तथा लाइब्निज़ को प्रत्ययवादी कहा जाता है, परन्तु वास्तव में दोनों का मत यह है कि सत्ता केवल चित्-रूप होती है या ऐसी जो चित् से स्वयं उत्पन्न होकर चित् के लिए विषय रूप में उपस्थित हो। लाइब्निज़ ने सत्ता में तारतम्य की समस्या को इस प्रकार से सुलझाया कि वास्तव में भिन्न

होते हुए भी यह भिन्नता केवल दृष्टिकोणों की भिन्नता है; या दूसरे शब्दों में कहें तो, स्तर की भिन्नता है। जहाँ तक उनके स्वरूप का सम्बन्ध है, वह तो एक ही है, और उस एक को ही वे विभिन्न रूप में अभिव्यक्त करते हैं।

द्रव्य सत् की समस्या का अन्य रूप लॉक से लेकर ह्यूम तक के दार्शनिक चिन्तन में अभिव्यक्त होता है। लॉक ने गुणों के बीच एक मूलभूत भेद दर्शाने को आश्रित और अनाश्रित होना माना। कल्पना और प्रत्यक्ष का भेद सर्वविदित है। कल्पना वह होती है जो मनुष्य की चेतना से स्वयं निर्मित होती है और प्रत्यक्ष वह होता है जो मनुष्य की चेतना से निर्मित न होकर स्वतन्त्र रूप से ग्रहण किया जाता है। प्रत्यक्ष में स्वयं इस प्रकार का भेद अधिकतर नहीं किया जाता कि उसका कुछ भाग या अंश ऐसा है जो मनुष्य की स्वयं अपनी देन है और कुछ ऐसा जो उससे स्वतन्त्र है। जैसे-जैसे शरीर और मन का प्रत्यक्ष पर प्रभाव होने का ज्ञान बढ़ा, वैसे-वैसे यह स्पष्ट होने लगा कि रूप, रंग,गंध, स्पर्श आदि जो इन्द्रियसंवेद्य गुण हैं, वे इन्द्रिय सापेक्ष हैं और चेतना सापेक्ष भी। इनकी स्वतन्त्र रूप में सत्ता मानना कठिन है, क्योंकि यदि संसार में कोई चेतन प्राणी न हो तो यह कहना कठिन होगा कि जगत् में रंग, ध्वनि, स्पर्श आदि विद्यमान होंगे। परन्तु तब भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि आकार, आकृति, विस्तार आदि गुण वस्तुओं में रहेंगे और इसी के आधार पर लॉक ने गुणों के दो स्तरों में भेद किया। एक वह जो वस्तुओं में स्वयं है और दूसरे वह जो वस्तुओं में तब उत्पन्न होते हैं या आरोपित होते हैं जब वे किसी चेतन प्राणी के सम्बन्ध में आते हैं। इसी भेद के आधार पर भौतिकी ने जगत् के मूल तत्त्व को जड़ द्रव्य और गति में देखा या, और इससे भी आगे चल कर स्वयं द्रव्य को भी ऊर्जा के स्थूल रूप में देखने की चेष्टा की। यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि लॉक के विचार का व्यापक प्रभाव भौतिक विज्ञान पर पड़ा। व्हाइटहैड के प्रसिद्ध शब्दों में विज्ञान ने जगत् को इस प्रकार से देखा कि उसमें न शब्द है न गंध, न रूप है न रंग। जो कुछ भी है वह केवल आकार है, आकृति है, विस्तार है। इस प्रकार से देखने पर जो संवेद्य जगत् है जिसमें मनुष्य रहता है और क्रियाशील होता है वह एक प्रकार से असत्य ही ठहरता है।

परन्तु विज्ञान ने लॉक की बात तो सुनी, पर बर्कले ने लॉक के मत के खण्ड़न में जो तर्क-प्रस्तुत किया उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। बर्कले का कथन था कि गुणों में लॉक ने जो भेद किया है वह वास्तव में किया ही नहीं जा सकता क्योंकि आकार, आकृति, विस्तार आदि भी उतने ही इन्द्रिय-सापेक्ष और चेतना-सापेक्ष हैं जितने कि कोई अन्य गुण। वास्तव में किसी भी ऐसे गुण को मानना जो चेतना से पूर्णरूप से स्वतन्त्र हो, असम्भव है और यदि यह बात मान ली जाये तो भेद केवल चेतना और उसके विषय में होता है, चेतना और उससे स्वतन्त्र विषय में नहीं; क्योंकि चेतना से स्वतन्त्र विषय की कल्पना ही एक प्रकार से आत्मव्याघाती है। बर्कले ने इस भेद को स्वीकार किया कि विषय ऐसा हो सकता है जो मेरी

चेतना पर आश्रित नहीं हो; यानि उससे स्वतन्त्र हो; पर यह मानने से इन्कार किया कि वह किसी अन्य चेतना से भी स्वतन्त्र हो सकता है। इसी आधार पर उसने ईश्वर की सत्ता के लिए तर्क प्रस्तुत किया कि ऐसे अनेक विषय हैं जो न मेरी चेतना पर आश्रित हैं न किसी अन्य चेतना पर। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि वे किसी ऐसी असीम चेतना के विषय हैं जो सब सीमित चेतनाओं से परे हैं। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि जगत् की स्वतन्त्र प्रतीति से बर्कले ईश्वर की सत्ता की ओर बढ़ता है जबकि डेकार्ट पहले ईश्वर की सत्ता को स्थापित करता है और उससे जगत् के सत्य अस्तित्व को निष्कर्ष के रूप में निकालता है।

बर्कले ने लॉक द्वारा किये गये गुणों के भेद को अस्वीकार तो किया, परन्तु उसने चेतना से स्वतन्त्र होने के अर्थ को या चेतना पर आश्रित होने के अर्थ को पूर्ण रूप से समझने की चेष्टा नहीं की। कल्पना का विषय चेतना पर आश्रित होता है, परन्तु कल्पित किये जाने के बाद वह चेतना के समक्ष उसी प्रकार प्रस्तुत होता है जैसे कोई अन्य विषय। यदि कल्पना संरचना का रूप ले ले तो वह संरचनात्मक विषय चेतनाश्रित होते हुए भी एक बार रचित हो जाने के बाद चेतना से स्वतन्त्र रूप में इस प्रकार अवस्थित होता है कि वह अन्य स्वतन्त्र चेतनाओं का विषय भी बन सकता है। दूसरी ओर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि हम उन गुणों को अधिक वस्तुनिष्ठ मानते हैं जिन पर कार्य रूपी प्रभाव डाल कर हम उनको कारण रूप में बदल सकते हैं और उनके द्वारा किसी अन्य प्रकार के गुणों की सृष्टि कर सकते हैं। लॉक का किया हुआ चेतना से स्वतन्त्र और चेतनाश्रित गुणों के बीच में जो भेद है वह इस प्रकार से देखा जा सकता है कि जो स्वतन्त्र गुण हैं वे कारण रूप में उन गुणों को उत्पन्न कर सकते हैं जिन्हें वह स्वतन्त्र नहीं मानता। पर यदि इस प्रकार देखें तो जो दूसरे दर्जे के या गौण कहे जाने वाले गुण हैं, यानि जो इन्द्रियों पर आश्रित हैं, वे स्वयं कारण रूप में प्रयोग किये जा सकते हैं। जैसा सबको विदित है जब हम तृतीय स्तर के गुणों यानि मूल्यों की सृष्टि करते हैं तो द्वितीय स्तर के गुणों के द्वारा ही करते हैं। कला का सृजन रूप, रंग, शब्द आदि के द्वारा ही किया जाता है। मंच पर जो दृश्यमान है, उसी से हम एक नए जगत् की सृष्टि करते हैं जहाँ नए मूल्य और नए आयाम सृष्ट होते हैं। इस दृष्टि से देखें तो उसको स्वतन्त्र रूप में सत् मानना होगा जिसका कारण रूप में प्रयोग हो सकता है। पर यह बात न तो लॉक ने देखी और न बर्कले ने। हाँ, बर्कले ने अन्य चेतनाओं के सम्बन्ध में एक भेद ज़रूर माना क्योंकि वे कम से कम विषय रूप में तो उपस्थित नहीं होतीं। पर यदि वे विषय रूप में उपस्थित नहीं होतीं तब किस रूप में उपस्थित होती हैं, ऐसा उसने स्पष्ट नहीं किया। यह भी स्पष्ट नहीं है कि क्या हमारा ईश्वर का ज्ञान बर्कले के विचार में उसी प्रकार का है जिस प्रकार कि अन्य चेतनाओं का? ऐसा लगता है कि बर्कले ने प्रत्यक्ष विषय के आधार पर विभिन्न प्रकार के अनुमानिक विषयों में भेद नहीं किया, विशेषकर उनमें जो स्वयं

प्रत्यक्ष का विषय हो सकते हैं और वे जिनके बारे में प्रत्यक्ष का विषय होने की बात ही नहीं की जा सकती।

बर्कले ने अमूर्त प्रत्ययों का खण्ड़न अवश्य किया, परन्तु यदि केवल प्रत्यक्ष ही सत् है तो मनुष्य और पशु के ज्ञान में क्या भेद रह जायेगा और अनुमानगत ज्ञान की सत्ता क्या होगी, इस पर बर्कले ने विशेष विचार नहीं किया। लॉक ने द्रव्य को गुणों के आधार रूप में माना था और साथ ही यह भी कहा था कि इससे ज़्यादा कि वह आधार रूप है, और कुछ नहीं कहा जा सकता है, न जाना जा सकता है। इसी सन्दर्भ में बर्कले का कहना था कि ऐसा ज्ञान क्या ज्ञान है जहाँ इससे अधिक कुछ नहीं कह सकते और ऐसी चीज को मानने की क्या आवश्यकता है जो केवल आधार रूप ही है परन्तु स्वयं में कुछ भी नहीं। ऐसी सत्ता तो केवल विचारमूलक होगी और विचार की आवश्यकता की पूर्ति के लिए मानी गई प्रतीत होगी; स्वयं में उसकी अपनी कोई सत्ता नहीं है। इसीलिए गुण का कोई आधार मानने की आवश्कयता नहीं है। परन्तु बर्कले को यही कठिनाई आत्म को द्रव्य-रूप मानने में प्रतीत नहीं हुई। जड़ द्रव्य को आधार रूप में मानना उसे अस्वीकार था। परन्तु जहाँ तक चेतन द्रव्य का प्रश्न है, उसको अस्वीकार करना ही उसे अजीब लगा, स्वीकार करना नहीं। सहज रूप में अपने को अस्वीकार भी कौन कर सकता है, और यदि कोई ऐसा करता भी है, तो यह एक प्रकार से केवल भाषा के स्तर पर ही होगा, विचार के स्तर पर नहीं। शायद यही बात डेकार्ट ने कहने की चेष्टा की थी। परन्तु चेतन द्रव्य केवल 'मैं' स्वयं ही तो नहीं हूँ, अन्य भी तो हैं, और उन अन्य चेतना के केन्द्र बिन्दुओं का ज्ञान विषय-रूप में नहीं होकर भी मुझसे अन्य के रूप में तो है ही। बर्कले ने उनकी सत्ता को स्वीकार तो किया परन्तु इससे उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों की ओर, विशेषकर गुणों के आधार रूप में द्रव्य को मानने के सन्दर्भ में जो कठिनाई उत्पन्न होती है, उसके बारे में कोई विशेष विचार नहीं किया।

इस सन्दर्भ में विचार की परम्परा को अपनी चरम तर्क-सीमा तक यदि किसी ने बगैर किसी हिचकिचाहट के पहुँचाया तो वह ह्यूम था जिसने द्रव्य मात्र की सत्ता को, चाहे वह चेतन हो या जड़, मानने से इन्कार किया। पश्चिमी दर्शन के इतिहास में ह्यूम का स्थान बहुत महत्त्व का रहा है, परन्तु जैसा कि दर्शन के विद्वान जानते हैं यह बात तो बहुत पहले बौद्ध दार्शनिक भारत में कह चुके थे और इस सम्बन्ध में बौद्धों और उनके विरोधी नैयायिकों आदि के बीच में बहुत कुछ विवाद भी हुआ था। पश्चिमी दार्शनिक इस विवाद से और इस सन्दर्भ में दिए गए तर्कवितर्क से पूर्णत: अपरिचित थे, इसलिए उनको ह्यूम का मत बहुत क्रान्तिकारी लगा। उनकी अपनी दार्शनिक परम्परा में हेरेक्लाइटस ने भी कुछ इसी प्रकार की बात कही थी परन्तु एक तो हेरेक्लाइटस बहुत पहले हुआ था और दूसरे उसके कोई विशेष अनुयायी भी नहीं हुए थे जो उस प्रकार की दार्शनिक

विचारधारा की परम्परा को जन्म देते। ह्यूम के विचार को सर्वथा नवीन मानने का एक और कारण यह भी था कि हेरेक्लाइटस ने अपने मत का प्रतिपादन तर्क के आधार पर नहीं बल्कि कुछ सूत्र-रूपी उक्तियों के माध्यम से किया था।

बर्कले ने इसी सन्दर्भ में दर्शन को केवल, एब्सट्रेक्ट विचार के रूप में देखने पर भी कुठाराघात किया था। इसमें उसका तर्क यह था कि किसी ऐसे विचार की कल्पना ही कैसे की जा सकती है जो न तो ऐसा है न वैसा, या दूसरे जो सब प्रकार का है, यानि, जिसमें या तो कोई भी गुण नहीं है या अनेक विरोधी गुण एक साथ हैं। ह्यूम ने एक प्रकार से इसी विचार को चरम सीमा तक पहुँचाया और दोनों बातों का समन्वय करके इस मत की स्थापना की कि जो वास्तव में है वह एक प्रवाहमात्र है जिसमें पूर्वापर या कालक्रम के सम्बन्ध के अलावा और कोई सम्बन्ध नहीं है, जो अनुभूत है वह केवल गुणों का ऐसा संघात मात्र है जिसमें केवल साहचर्य सम्बन्ध है, फिर चाहे वे इन्द्रियों से ग्रहण हों या मन से, और चाहे उनका पूर्वापर सम्बन्ध हम में इस प्रकार के सहज विश्वास को जन्म दें कि जब पहले प्रकार के गुण अनुभूत होंगे तब दूसरों की अनुभूति भी होगी। इसी सन्दर्भ में ह्यूम का कार्य-कारण विचार का प्रसिद्ध खण्ड़न है और जैसे उसने द्रव्य के विचार का पूर्ण रूप से खण्ड़न किया उसी प्रकार से घटनाओं में किसी अनिवार्य सम्बन्ध का भी, जिसको अधिकतर हम कार्य-कारण के सम्बन्ध के नाम से अभिहित करते हैं।

ह्यूम ने यह सब तो कहा पर इसकी चर्चा नहीं की कि यदि जो कुछ है वह अनुभूत सत् है तब शरीर और इन्द्रियों का ज्ञान हमें कैसे होता है और मन या आत्मा का कैसे। बाद में रसल ने इसी कमी को पूरा करने की चेष्टा की और अपने प्रसिद्ध सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि जो मूल रूप में सत् है वह केवल एक सद्य:अनुभूत सम्बन्धों का ऐसा प्रवाह है जिसको स्वयं में हम न जड़ कह सकते हैं न चेतन, परन्तु जिससे या जिसमें हम दो संरचनाएँ करते हैं, एक ओर जगत् और दूसरी ओर मन या आत्मा की। इन दो संरचनाओं का मूल स्रोत वह प्रवाह ही है जो दो भागों में मूलत: विभक्त है, एक जिसको हम इन्द्रियों के सन्दर्भ में ही परिभाषित कर इन्द्रिय-संवेद्य का नाम देते हैं और दूसरा जिन्हें हम तार्किक बुद्धि के सन्दर्भ में ही परिभाषित कर सकते हैं और जिन्हें हम तार्किक सम्बन्ध या गणितीय सम्बन्ध कहते हैं। ज्ञान की संरचना इन दोनों के मिलने से ही उत्पन्न होती है और दो विशेष सत्य की रचना करती है, एक जगत् रूप में और दूसरी आत्म रूप में।

रसल ने जो कहा है वह वास्तव में ह्यूम के परवर्ती विचारक काण्ट के मत का एक प्रकार से आधुनिक रूपान्तरण समझा जा सकता है। काण्ट का नाम दर्शन के इतिहास में जगत् प्रसिद्ध है और वास्तव में वह उन गिने-चुने दार्शनिकों में हैं, जिन्होंने दर्शन को एक नई दृष्टि दी। दर्शन के इतिहास में प्राय: ऐसा कहा जाता

है कि काण्ट ने ह्यूम के प्रश्नों का उत्तर देने की चेष्टा की और यह बात काण्ट के उस कथन से भी परिलक्षित होती है, जिसमें उसने यह कहा था कि ह्यूम ने मुझे उस गहरी निद्रा से जगाया जिसमें मैं सहज विचार के विश्वासों के प्रति शंकाशील नहीं था। परन्तु ऐसा क्या डेकार्ट ने बहुत पहले नहीं किया था? ह्यूम के दार्शनिक विचारों के द्वारा कान्ट में कुछ नये प्रश्न जाग्रत हुए, यह ऐतिहासिक महत्त्व की बात है, दार्शनिक महत्त्व की नहीं और यदि गहराई से देखें तो काण्ट के विचार का मूल आधार पश्चिमी दर्शन के इतिहास गें मिलेगा, न कि केवल ह्यूम के दर्शन में। जैसा कि सर्वविदित है, पश्चिमी दर्शन के इतिहास में प्लेटो ने यह कहा कि इन्द्रियानुभव से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह वास्तव में ज्ञान कहलाने का अधिकारी नहीं है, क्योंकि ज्ञान उसी को कहा जा सकता है जो सार्वभौम रूप से सत्य हो और निरपेक्ष हो। परन्तु ऐसा ज्ञान तो इन्द्रियों से कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता। वह तो हमेशा देश और काल के ही सापेक्ष नहीं होता, बल्कि स्वयं मनुष्य के भी सापेक्ष होता है। इसीलिए प्लेटो का यह स्पष्ट मत था कि ज्ञान केवल बुद्धि से ही ग्रहण किया जा सकता है, इन्द्रियों से नहीं। परन्तु बुद्धि से जो ग्रहण होता है और वह जो कल्पना से ग्रहीत होता है, उनमें भेद क्या है? जो कल्पित होता है उसे ज्ञान नहीं कहा जाता और इसका आधार यदि यह मानें कि कल्पना इन्द्रियानुभव पर आधारित होती है और व्यक्ति सापेक्ष होती है तो शुद्ध बुद्धि से प्राप्त ज्ञान में और कल्पना के विषय में भेद इसी आधार पर करना होगा कि वह ज्ञान जो शुद्ध बुद्धि द्वारा ग्राह्य होता है उसका इन्द्रियानुभव में कोई भी आधार नहीं होता और न वह व्यक्त सापेक्ष ही है। दूसरी बात का मानना तो एक प्रकार से आसान है, परन्तु किसी ऐसे ज्ञान की कल्पना करना जो इन्द्रियानुभव में किसी भी तरह आधारित न हो, कठिन है।

एक प्रकार से यह बात लॉक पहले ही स्पष्ट कर चुका था, पर कान्ट ने इस बात को एक नये सिरे से उठाया और उसने इस प्रश्न को इस तरह से रखा कि क्या इन्द्रियानुभव को अनुभव होने के लिए किसी अन्य बात की अपेक्षा नहीं है। यह बात मनुष्य के अनुभव के सन्दर्भ में ही उठाई गई है; अन्य प्राणियों के सन्दर्भ में नहीं। वास्तव में मनुष्य का प्रत्यक्षगत ज्ञान भी एक प्रकार से वाक्यात्मक रूप लेता है। वह कहता है कि ''यह, यह है या 'यह', यह नहीं है।'' इस प्रकार प्रत्यक्ष में भी जो अनुभूत है उसका ज्ञान एक ऐसा रूप लेता है, जो विचार की कोटियों में आबद्ध है।

काण्ट ने केवल यही बात नहीं कहीं, बल्कि इससे भी गहरे जाकर देश और काल जिसमें समस्त प्रत्यक्षानुभव बद्ध होता है उनकी ओर भी ध्यान दिलाया। देश बाह्यानुभव-रूप प्रतीत होता है। प्रत्येक इन्द्रियानुभूति देश और काल में अवश्य होती है और ऐसा प्रतीत होता है कि देश स्वयं विषय रूप है और प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण होता है। यही बात काल के सन्दर्भ में भी लागू होती है, हालांकि काल उस

प्रकार से विषय रूप में उपस्थित नहीं होता जिस प्रकार से दृष्टि और स्पर्श के द्वारा देश की प्रत्यक्षानुभूति होती प्रतीत होती है। काल की अनुभूति एक प्रकार से अन्तरानुभव के द्वारा ही हुई कही जा सकती है परन्तु काण्ट ने देश और काल को बाह्य विषय रूप न मान कर बाह्य और आन्तरिक प्रत्यक्ष की आकारिक पूर्वमान्यता के रूप में उपस्थित किया। इसके लिए उसने यह तर्क दिया कि यदि इनको विषय रूप माना जाए तो अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न होती हैं। अपनी प्रसिद्ध एण्टीनोमीज (Antinomies) के द्वारा उसने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि यदि हम उनको विषय रूप में स्वीकार करें तो परस्पर विरोधी मतों की पुष्टि देश और काल के बारे में की जा सकती है। यह सिद्ध किया जा सकता है कि देश और काल अनन्त हैं यानि उनका कभी न आदि है न अन्त, पर इसके विपरीत यह भी उतना ही तर्कपूर्ण ढ़ंग से सिद्ध किया जा सकता है कि देश और काल सीमित हैं, उनका आदि तो था, अन्त हो या न हो। यही बात उसने कार्य-कारण के सम्बन्ध के बारे में भी कही।

यहाँ जो विशेष ध्यान देने योग्य बात है, वह यह है कि काण्ट ने एक ऐसी तार्किक विधि का दर्शन में उद्घाटन किया जो एक प्रकार से सर्वथा नवीन थी। उसको इस प्रकार से समझा जा सकता है कि जो चीज़ विषय रूप नहीं है उसको यदि हम विषय रूप में समझें तो वह एन्टीनोमीज़ को जन्म देगी, यानि, ऐसे विपरीत सिद्धान्तों को जो एक-दूसरे के अत्यन्त विरोधी होते हुए भी तर्क से सही सिद्ध होते प्रतीत होते हैं। दर्शन में ऐसी स्थिति का होना इस बात का द्योतक है कि हम किसी ऐसी चीज़ को विषय रूप में मान रहे हैं जिसको विषय रूप में नहीं मानना चाहिए। दर्शन का इतिहास इस बात का साक्षी है कि अनेकों दार्शनिक परस्पर विरोधी बातों को तर्क सिद्ध कहते रहे हैं। कान्ट के अनुसार यह इस कारण हुआ कि अपने मतों में एक-दूसरे के विरोधी होते हुए भी वे इस बात पर सहमत थे कि जिन चीजों की वे समीक्षा कर रहे थे वे विषय रूप थीं, अनुभव का विषय थीं, जबकि ऐसा नहीं था।

दर्शन के इतिहास के मूल में ही उसने एक ऐसे दोष को खोज निकाला जो उसके पहले कम से कम इतने स्पष्ट रूप में सर्वविदित नहीं था। एक प्रकार से काण्ट ने इस बात को भी स्पष्ट किया कि गणित और ज्यामिति के ज्ञान क्यों अनिवार्य और सार्वभौम हैं और क्यों वे केवल शुद्ध बुद्धि से ज्ञात होने के बावजूद इन्द्रियानुभूत विषयों पर अनिवार्य रूप से लागू होते हैं। यह बात ग्रीक दर्शन के शुरू में ही गणित और ज्यामिति के बारे में प्रसिद्ध थी। एक प्रकार से इसी ने ज्ञान के उस मानदण्ड को स्थापित किया जिसके अनुसार ज्ञान उसी को कहा जा सकता है जो निरेपक्ष हो, सार्वभौम हो, शुद्ध बुद्धि के द्वारा ग्रहीत हो और फिर भी जो इन्द्रियानुभूत जगत् में अनिवार्य रूप से लागू हो। काण्ट ने गणित और ज्यामिति के इन गुणों को इस बात से निगमित बताया कि देश और काल जो ज्यामिति और

गणित से सम्बन्धित हैं, विषय रूप न होकर इन्द्रियानुभव प्रत्यक्ष के ऐसे प्रागानुभव आकार रूप हैं जिनके बिना वह प्रत्यक्षानुभूति असम्भव है और इसलिए उनमें जो भी गुण अन्तर्निहित हैं, वे अनिवार्य रूप से इन्द्रियानुभूत विषयों में भी अभिव्यक्त होंगे।

इनके विषय न होने का प्रमाण काण्ट ने इस प्रकार दिया कि यदि इनको विषय रूप माना जाये तो यह एन्टीनोमीज़ को जन्म देंगे यानि दो परस्पर विरोधी बातों को एक साथ सत्य सिद्ध करेगा। यही विचार काण्ट ने कार्य-कारण सम्बन्ध को अनुभूत विषयों में सम्बन्ध न मानने के लिए भी दिया था। जो बात देश और काल के बारे में तथा इन्द्रियप्रत्यक्षों के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध के बारे में कांट ने कही, वही ज्ञान के एक अन्य स्तर, यानि वह जो वाक्यों में प्रकट होता है या बाँधा जाता है, के बारे में भी कही। ज्ञान हमेशा यह रूप लेता है कि 'ऐसा है' या 'ऐसा नहीं है' और जो 'ऐसा है' या 'ऐसा नहीं है' वह 'सबके' बारे में है या 'कुछ' के बारे में है या किसी 'वस्तु विशेष' के बारे में है। अरस्तू ने जो वाक्यों का वर्गीकरण किया था उसी को आधार मानकर काण्ट ने वाक्यात्मक ज्ञान की प्रागनुभविक कोटियाँ बताईं और यह कहा कि किसी भी ज्ञान का ज्ञानरूप होना प्रत्यक्षानुभव को इन कोटियो में बाँधना ही है। ये कोटियाँ अंग्रेजी में जिन्हें Quantity, Quality, Relation और Modality कहते हैं, ज्ञान के सन्दर्भ में बताई गई हैं और प्रत्येक वर्ग के तीन-तीन विशिष्ट रूप माने गये हैं। इसीलिए कुल कोटियाँ 12 मानी जाती हैं। परन्तु यह बात ध्यान देने की है कि कार्य-कारण सम्बन्ध की कोटि को छोड़कर काण्ट ने अन्य किसी ऐसी कोटि के प्रागनुभविक होने के लिए कोई उस प्रकार का तर्क प्रस्तुत नहीं किया जिस प्रकार का उसने देश, काल, और कार्य-कारण के सम्बन्ध के लिए किया है। इसी प्रकार यह भी कुछ स्पष्ट नहीं है कि काण्ट के अनुसार प्रत्येक ज्ञान जो वाक्य रूप में उपस्थित किया जाता है या ग्रहण होता है वह इन चारों कोटियो में से अपने किसी एक रूप में अवश्य आबद्ध होता है या प्रत्येक बारह की बारह कोटियाँ उस पर एक साथ लागू होती हैं। प्रथम दृष्टि में ठीक तो ऐसा ही लगता है कि प्रत्येक वाक्य या, दूसरे शब्दों में कहें तो प्रत्येक ज्ञान इन चारों कोटियों में से प्रत्येक की किसी न किसी विशेष उपकोटि में आबद्ध होता है। कोई भी ज्ञान एक न एक प्रकार का अवश्य होगा और यदि वह एक प्रकार का है तो उसी कोटि में दूसरे प्रकार का नहीं हो सकता। परन्तु ऐसा मानने पर यह कठिनाई उत्पन्न होती है कि दर्शन के इतिहास पर कांट की जो दृष्टि है यह उसके विपरीत है। उस दृष्टि के अनुसार तो यह सिद्ध होता है कि दर्शन में परस्पर विरोधी सिद्धान्तों को सत्य मानने का कारण यह था कि कोटियों को एकांगी रूप में उस पर लागू किया गया जो सत् था जबकि वस्तुस्थिति यह है कि देखने में एक-दूसरे के विपरीत कोटियाँ भी एक साथ जो अनुभूत सत् है उस पर लागू होती हैं। इस समस्या पर काण्ट के दर्शन के

समीक्षाकारों ने कुछ अधिक ध्यान नहीं दिया है और न ही काण्ट के भारतीय व्याख्याकारों ने। जैन मत में जो अनेकान्त और नय के सिद्धान्त हैं, उससे भी सादृश्य या भेद की किसी ने चर्चा नहीं की है।

काण्ट ने इसी बात को आगे भी बढ़ाया और यह कहने की कोशिश की कि दर्शन की सारी समस्याएँ इसी से उत्पन्न होती हैं कि हम कोटियों को विचार की कोटियाँ न मानकर या ज्ञान की कोटियाँ न मानकर सत्ता की ही कोटियाँ मान बैठे हैं। ऐसा मानने पर परस्पर विरोधी बातें सत्य सिद्ध होती प्रतीत होती हैं। परन्तु यदि ऐसा न मानें तो जो चरम सत् स्वयं में है उसके विषय में सिवाय इसके कि वह है और कुछ नहीं कहा जा सकता। यदि काण्ट का विचार इस चरम सत् को केवल अनिर्वचनीय कहने तक ही सीमित होता तो शायद उतने महत्त्व की बात न होती क्योंकि एक प्रकार से अनेकों दार्शनिक किसी न किसी रूप में इस बात को मानते हैं। परन्तु काण्ट ने इस विचार को एक नई दिशा यह कह कर दी कि कर्म के नैतिक संकल्प के सन्दर्भ में जो हमें अनुभूति होती है उसको यदि सार्थक मानना है तो वह इसी रूप में माना जा सकता है कि हम यह स्वीकार करें कि उस अनुभूति में जो चरम सत् है उससे एक प्रकार का अनुभूत तादात्म्य स्थापित होता है। नैतिक कर्म या अधिक ठीक तरह से कहें तो नैतिक कर्म का संकल्प आत्मा की स्वतन्त्रता को पूर्व मान्य करता है, क्योंकि यदि हम स्वतन्त्र नहीं हैं तो नैतिक उत्तरदायित्व की बात करना ही वृथा है। पर इस तरह की स्वतन्त्रता तो कार्य-कारण की कोटि के परे होगी और इसलिए ज्ञान का विषय नहीं हो पायेगी। वह तो ऐसा कारण है जो स्वयं कार्य रूप नहीं है और इसलिए यदि नैतिक संकल्प जैसी कोई चीज़ हमारे अनुभव में आती है तो काण्ट के अनुसार हमको यह मानना पड़ेगा कि स्वतन्त्रता है, यद्यपि यह ज्ञान की परिधि के बाहर है।

भारतीय दर्शन की परम्परा में अध्यात्म की अनुभूति, आत्मानुभूति या ईश्वरानुभूति के रूप में ही ली गई है और उस अर्थ में उसको साधारण विषय रूप नहीं माना गया है। परन्तु चरम सत् का अनुभव किसी उत्तरदायित्व की भावना के साथ संलग्न हो, ऐसा कभी भी स्वीकार नहीं किया गया। मोक्ष की चर्चा सब जगह है और एक प्रकार से मोक्ष स्वतंत्रता का ही दूसरा नाम है, परन्तु स्वतंत्रता का अर्थ नैतिक उत्तरदायित्व है या कर्तव्य कर्म का शुद्ध संकल्प रूप है, ऐसा भारतीय चिन्तन में दुर्लभ है। क्योंकि वास्तव में अन्य का होना ही उन्होंने बन्धन का लक्षण माना है। काण्ट के विचार की यह नवीनता उसे पश्चिमी दर्शन के इतिहास की उस मूल कड़ी से जोड़ती है जिसने मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी के रूप में देखा है और नैतिकता को ही उसका चरम पुरुषार्थ माना है। काण्ट के दर्शन के अन्य अनेकों पहलू भी हैं जिनकी विस्तार से चर्चा शल्यजी के लेख में है और उनके बारे में यहाँ कुछ विशेष कहना अनावश्यक है।

काण्ट के परवर्ती विचारकों ने काण्ट ने जो मूल समस्याएँ उठाई थीं और उनको सुलझाने की जो दृष्टि दी थी उसी को आगे बढ़ाया। फिढ़टे, शैलिंग और हेगेल ने भिन्न-भिन्न विषयों में काण्ट की विचारधारा को भिन्न दिशाओं में ले जाने की कोशिश की। इन सब कोशिशों के मूल में जो प्रवृत्ति थी वह उन समस्याओं को हल करने की थी जो कांट के उस द्वैत से उत्पन्न हुई थी जो उसने वास्तव में सत् है और जो हमारे ज्ञान के विषय के रूप में प्रस्तुत होता है, उसके बीच में किया था। वास्तव में समस्या पुरानी है, क्योंकि जो भी मनुष्य को ज्ञात होता है उसको मूल रूप में मनुष्य-सापेक्ष तो मानना ही पड़ेगा। कम से कम इसमें तो किसी को भी आपत्ति नहीं होगी कि जो कुछ कभी मनुष्य जानता है या जानने का दावा करता है, वह सब वैसा का वैसा ही मनुष्य से स्वतन्त्र रूप में सत् नहीं है। यदि ज्ञान की ऐतिहासिकता को ध्यान में रखें तो यह निश्चय ही सत्य प्रतीत होगा कि काल के किसी भी एक बिन्दु पर जिसे ज्ञान की संज्ञा दी जाती है, वह अनिवार्यत: अपूर्ण होने के साथ-साथ ऐसे अंशों को भी अपने में सम्मिलित करता है जिनके असत्य होने की गहरी आशंका है और चूँकि काल कभी समाप्त नहीं होता है, इसलिए ज्ञान हमेशा ही असम्पूर्ण और अंशत: असत् रहेगा। परन्तु जो सत् स्वयं में है उसे तो इन लक्षणों से बाधित नहीं माना जा सकता और इसलिए न उसमें कोई असत् का अंश है, न उसकी सम्पूर्णता में कोई कमी। यह ठीक है कि इस स्पष्ट मान्यता में भी कुछ कठिनाइयाँ तो हैं ही। ये विशेष तौर पर उन सत्ताओं के बारे में है जो स्वयं मनुष्य की कृति हैं और जिनके बारे में ज्ञान की समस्या भी कुछ उसी प्रकार की हैं जैसी कि उन विषयों के बारे में जो मनुष्य की प्रत्ययात्मकता से पूर्णरूपेण स्वतन्त्र हैं। दूसरी ओर यह भी स्पष्ट है कि किसी ऐसे भेद का खण्ड़न तभी किया जा सकता है जब कि कोई यह माने कि मनुष्य में जो बुद्धि का अंश है वह न व्यक्तिगत है न व्यक्तिनिष्ठ और जो मनुष्य को विषय रूप में दिखने वाला जगत् है उसके मूल में भी वही बुद्धि है जो उसकी अपनी वैयक्तिकता से अविच्छिन्न होकर उसमें प्रकट होती प्रतीत होती है और इसके भी दो भेद हो सकते हैं। एक वह जो बुद्धि से प्राप्त सत् को कालातीत मानता है और वह जो कालक्रम में घटित होता प्रतीत होता है उसको एक प्रकार से इन्द्रियों का आवरण या मायाजाल। दूसरी ओर काल को एक अन्य रूप में भी देखा जा सकता है। इस रूप में कि जो कालातीत है, वही काल में अभिव्यक्त होता है और चूँकि सत् अनन्त है इसलिए वह अपने को काल की क्रमबद्ध अनन्तता में अभिव्यक्त करता है और इस अभिव्यक्ति के द्वारा ही हम उसके स्वरूप को कुछ-कुछ समझ पाते हैं।

कहने का आशय यह है कि इतिहास सत् से अलग या परे नहीं है, बल्कि उसका ही रूप है और बुद्धि स्वयं अपने को विषय रूप में और कालक्रम में अवस्थित करती है और इस तरह से अपने को जानती है। हेगेल ने इन्हीं दो

निष्कर्षों को अपने दर्शन में चरम सीमा पर पहुँचाया। उसका प्रसिद्ध कथन कि बुद्धि ही सत् है और सत् ही बुद्धि है (The rational is real and the real is rational) इस ओर इशारा करता है। दूसरी ओर हेगेल ने अपने विचार में जो इतिहास को स्थान दिया वह इसका द्योतक है। हेगेल का कहना कि किसी वस्तु को जानना एक प्रकार से उसके इतिहास को ही जानना है। इतिहास से अलग करके उसको देखना उसके स्वरूप को नहीं समझना है। हेगेल ने एक बात और भी कही और वह यह थी कि मनुष्य की जो कृति है और जो स्थूल रूप में उसी प्रकार उससे स्वतन्त्र दिखाई देती है जैसे मानवेतर प्रकृति दिखाई पड़ती है, वह वास्तव में बुद्धि का ही एक मूर्त रूप है। इसी को वह Objective Spirit कहता है जो एक प्रकार से ज्ञानावशेष के रूप में बना रहता है, या यों कहें कि जो ज्ञान की सीमा के रूप में सदैव ज्ञान के साथ जुड़ा हुआ है, लेकिन जो स्वयं में वास्तव में कुछ नहीं है ठीक उसी प्रकार जैसे हमारी गति के लिए क्षितिज की प्रतीति जो हमेशा उतना ही आगे बढ़ता जाता है, जितना कि हम आगे बढ़ते हैं लेकिन जो वास्तव में कुछ भी नहीं हैं और इसीलिए जिसे न कभी पकड़ा जा सकता है, न छुआ जा सकता है, न जिस तक पहुँचा जा सकता है।

काण्ट के बाद हेगेल से बड़ा दार्शनिक शायद ही कोई हुआ हो और ऐसा कहा जा सकता है कि ज्ञान के दो अन्तिम विकल्प काण्ट और हेगेल में प्रकट हुए। काण्ट के अनुसार जो सत् है उसका ज्ञान हम केवल अपनी बुद्धि की कोटियों द्वारा ही कर सकते हैं। उसका वास्तविक स्वरूप क्या है यह हम कभी भी नहीं जान सकते, कम से कम ज्ञान रूप में। इसके विपरीत हेगेल का कथन था कि यदि कोई वास्तविक रूप में अज्ञेय है तो उसकी अज्ञेयता जानी ही नहीं जा सकती क्योंकि यह जानना कि कोई चीज़ अज्ञेय है उसको जानने की दिशा में पहला कदम उठाना है। इसलिए हेगेल के विचार में बुद्धि और सत् में कोई भेद कभी माना ही नहीं जा सकता। हेगेल के परवर्ती दार्शनिकों ने एक प्रकार से कांट के उस पक्ष पर जोर दिया जो बुद्धिनिष्ठ न होकर हमारे संकल्पों या हमारी भावनाओं में केन्द्रित था। शॉपेनहावर और नीत्शे इस प्रवृत्ति के सबसे बड़े दार्शनिक थे। परन्तु दोनों ने एक प्रकार से कांट के नैतिक संकल्प से ध्यान हटा कर केवल चित्त शक्ति का जो मात्र संकल्प रूप है उस पर अपने विचार केन्द्रित किए।

शॉपेनहाबर ने तो मूल जीवन प्राण-शक्ति को एक प्रकार से नैतिकता का विरोधी ही माना और विचार-निष्ठ बुद्धि को उसका प्रतियोगी। नैतिकता का काम इस प्रकार से शक्ति के उद्दाम और चिरन्तन जीवन-प्रवाह को रोकने मात्र का रह गया। शायद और भी मूल रूप में इस प्राण-शक्ति को नैतिक-अनैतिक या अच्छे-बुरे से स्वतन्त्र रूप में ही स्वीकार करना होगा। कहने का अर्थ यह है कि जो वास्तव में सत् है वह शक्ति रूप है और यह शक्ति उसके अनुसार एक ऐसी

अनियन्त्रित, उद्दाम, चिरन्तन जीवन-वासना है जिसकी क्षुधा कभी पूरी नहीं हो सकती और इस क्षुधा की पूर्ति के लिए साधन रूप में वह जिस विचार की प्रक्रिया को जन्म देती है वह कभी-कभी इसका मनोरथ पूर्ण करने की क्रिया से स्वतन्त्र होकर अपने स्वयं के लक्ष्य स्थापित कर लेती है और कभी तो वह इसके विरोध में खड़ी होकर इस चरम तृष्णा से उद्वेलित सतत् प्रवाह के मूल को ही नष्ट करने की चेष्टा करती है। शॉपेनहावर पर बौद्ध विचार की स्पष्ट छाप प्रतीत होती है और उसने स्वयं भी भारतीय दर्शन के ग्रन्थ, खास तौर पर उपनिषदों का वर्णन किया है।

इसके विपरीत नीत्शे चरम शक्ति को केवल जीवन्त प्राण-शक्ति के रूप में ही नहीं देखता बल्कि उसे एक ऐसे रूप में देखता है जिसमें वह अपने को अधिकाधिक शक्तिशाली रूप में स्थापित करने के लिए सतत् प्रयत्नशील है। नीत्शे के विचार में संकल्प शक्ति का लक्ष्य अधिक शक्तिमान होना है और नैतिकता का मानदण्ड़ भी यह शक्ति स्वयं ही है। दोनों ही विचारकों के सम्बन्ध में अनेक समस्याएँ हों, परन्तु मुख्य समस्या तो यह प्रतीत होती है कि यदि चरम सत् शक्ति मात्र है तो उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन कैसे किया जा सकता है। इस समस्या पर कोई विशेष विचार इन दार्शनिकों में नहीं मिलता। दूसरी ओर शक्ति की बात करके इन दार्शनिकों ने दर्शन का ध्यान बुद्धि और तर्क से हटा कर उस मूल की ओर केन्द्रित किया जहाँ से बुद्धि और तर्क उदय होते हैं और जो उनसे परे है। एक प्रकार से यह कहने की कोशिश की गई कि बौद्धिक चिन्तन, जो एक प्रकार से दर्शन की आत्मा ही है, चरम सत् को पकड़ने में असमर्थ है। तर्क या बुद्धि साधारण रूप में उन साध्यों की पूर्ति के लिए ही प्रयोग होती है जो साध्य उसको कहीं और से मिले हैं। स्वतन्त्र रूप में वे केवल एक ऐसा कल्पनाजगत् बुन सकते हैं या कल्पना प्रासाद बना सकते हैं जिसका सत् से कोई सम्बन्ध नहीं है। नीत्शे की मृत्यु के साथ ही 19वीं शताब्दी का अन्त होता है और 20वीं शताब्दी का प्रारम्भ।

ब्रेडले और बर्गसाँ के दर्शन यूरोपीय दर्शन की विभिन्न धाराओं की केवल प्रतिध्वनि मात्र ही नहीं है; उनका अपना स्वयं का वैशिष्ट्य भी है, परन्तु उतना नहीं जितना कि इन विचारधाराओं के प्रधान प्रवर्तक दार्शनिकों का है। ब्रेड्ले तो अपने को हेगेलीय दर्शन से न केवल प्रभावित ही मानता है परन्तु अपने को उसका अनुयायी भी समझता है। इंग्लैण्ड में नवहेगेलवाद के प्रमुख दार्शनिकों में उसका उच्चतम स्थान है। परन्तु गहराई से देखा जाए तो उसने हेगेल के विचार को एक ऐसी दिशा दी जो स्वयं हेगेल की मूलभूत धारणा के विपरीत थी। एक प्रकार से हेगेल बुद्धि को सर्वोपरि मानता था हालांकि उसकी बुद्धि की अवधारणा न केवल साधारण अवधारणा से भिन्न है, परन्तु अन्य दार्शनिकों की अवधारणा से भी और इसी प्रकार वह बुद्धि और सत् का तादात्म्य भी स्वीकार करता था। परन्तु ब्रेडले

का कहना था कि बुद्धि कभी भी सत् को नहीं पकड़ सकती क्योंकि वह हमेशा सम्बन्धों के द्वारा ही जानने की चेष्टा करती है,और सम्बन्ध अपने आप में अनेक विसंगतियों से भरे पड़े हैं, जिनको अनदेखा करके ही हम सत् को बुद्धितन्त्र से पकड़ने की बात कर सकते हैं, फिर चाहे वह अरस्तू का तन्त्र हो या हेगेल का। इस प्रकार से ब्रेडले हेगेल की मूल धारणा पर ही आघात करता है और इस ओर संकेत करता है कि शायद सत् की अनुभूति बुद्धि से परे किसी अन्य अनुभव में होती है जो स्वयं बुद्धिरहित होता है।

बर्गसाँ ने भी यही बात कुछ अन्य प्रकार से कही हालांकि उसको हेगेलीय दर्शन की विचारधारा में कभी भी नहीं माना जा सकता। उसके अनुसार यही नहीं है कि बुद्धि सत् को पकड़ने में असमर्थ है परन्तु वह सत् को एक ऐसा रूप देती है जो उसके स्वरूप के बिल्कुल विपरीत है। जबकि ब्रेडले बुद्धि को सम्बन्धात्मक मानता है, बर्गसाँ के अनुसार वह मूलत: उसी को ग्रहण कर सकती है जो स्थिर है, यानि, जिसमें न कोई परिवर्तन है, न गति। बुद्धि एक प्रकार से उस नियम की खोज करती है जिसके अनुसार परिवर्तन घटित होते हैं और इस प्रकार से परिवर्तन की परिवर्तनीयता पर ही आघात करती है। कहने का अर्थ यह है कि जो वास्तव में परिवर्तनशील है वह किस दिशा में परिवर्तित होगा यह हमेशा अगम्य और अज्ञात ही रहना चाहिए। यदि हम उसको किसी प्रकार भी ज्ञात होने का रूप देते हैं तो उसकी जो मूल प्रकृति है उसका ही खण्ड़न करते हैं। इसीलिए बर्गसाँ के विचार में प्राण-शक्ति का जो सतत् प्रवाह निरन्तर परिवर्तनशील और गतिमान है, उसको बुद्धि जड़ रूप देकर ही समझने की चेष्टा करती है। बुद्धि का क्षेत्र वह है जो जड़ है, जिसमें प्राण और चेतना समाप्त हो चुकी होती है।

अपनी जड़ की धारणा को बर्गसाँ इस प्रकार से समझाने की चेष्टा करता है कि जड़ वो है जो प्राणशक्ति अपने चिरन्तन प्रवाह में पीछे छोड़ आई है और जिसमें एक प्रकार से मृत स्थिरता आ गई है। इसको इस प्रकार से भी समझ सकते हैं कि जैसे कोई चिरन्तन सृजनशील प्राणी हमेशा नई-नई रचनाएँ करता रहता है और उसके लिए वास्तव में सत् यह सृजन की प्रक्रिया है, वह नहीं जिसका वह सृजन कर चुका है। उसकी ओर तो ध्यान उन्हीं लोगों का जाता है जो स्वयं रचनाशील नहीं हैं, बल्कि जो दूसरों की रचनाओं का मूल्यांकन करते हैं या उन्हें समझने की चेष्टा करते हैं। समस्त विज्ञान को बर्गसाँ इसी प्रकार देखता है और उसको सत्य ज्ञान का साधन न मानकर यह मानता है कि वह जो सत् है उसको असत् में परिवर्तित करके ही जान पाता है।

ब्रेडले और बर्गसाँ के साथ हम 20वीं शताब्दी में प्रवेश करते हैं और हालाँकि ये दार्शनिक 20वीं शताब्दी के दर्शन की मुख्य धाराओं का प्रतिनिधित्व नहीं करते परन्तु फिर भी इनका जो बुद्धि के प्रति दृष्टिकोण है उसमें शॉपेनहावर और नीत्शे से निसृत होने वाली धारा की प्रतिध्वनि मिलती है। बीसवीं शताब्दी के

दर्शन की एक धारा तो वह है जो शापनेहावर और नीत्शे से प्रभावित होती है। वह बुद्धि को गौण रूप में मानकर उस प्राणवान अनुभव की मूल प्रक्रिया की ओर दर्शन का ध्यान मोड़ने की कोशिश करती है जो सब विचार के मूल में है और जो उससे स्वतन्त्र रूप में अबाध बहती है। इस प्रकार वे दर्शन को उस सतत् अनुभव के प्रवाह के साथ सम्बन्धित करने की चेष्टा करते हैं जिसमें कि हम सब अधिकांश क्षणों में जीते हैं। 20वीं सदी के दर्शन की दूसरी धारा गणित, तर्क और विज्ञान के नये आयामों से उत्पन्न होती है। बुद्धि के विशाल प्रासाद में नए खण्ड़ और मंज़िलें बनती हैं और दर्शन की यह विधा उनका महत्त्व समझने में ही अपना चरम लक्ष्य मानती है। दोनों धाराओं में कोई सामञ्जस्य अभी तक उत्पन्न नहीं हुआ है परन्तु कोई भी विचारशील व्यक्ति आधुनिक दर्शन के इन दोनों क्षेत्रों में उपलब्धियों को अस्वीकार नहीं कर सकता। पश्चिमी दर्शन का लम्बा इतिहास जो ग्रीक काल से शुरू होकर अब तक सतत् प्रवाहमान रहा है और जो अब एक प्रकार से विश्वदर्शन का रूप ले रहा है वह क्या और नई दिशाएँ लेगा, यह कहना कठिन है। इससे भी कठिन शायद इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ना है कि भारतीय और चीनी दार्शनिक परम्पराओं का आधुनिक युग में क्या स्थान रहेगा और वे आजकल के दर्शन को किस प्रकार प्रभावित करेगी। यह कम से कम उन दार्शनिकों के लिए जो इन संस्कृतियों के उत्तराधिकारी हैं, महत्त्वपूर्ण प्रश्न के रूप में तो उत्पन्न होता ही है, परन्तु इसका इससे भी गहरा सम्बन्ध इन संस्कृतियों के भविष्य से जुड़ा है।

❑

डेकार्ट से डेरिडा तक

पश्चिमी दर्शन का आधुनिक युग, जैसा सबको पता है, दो विभिन्न, दो परस्पर विरोधी धाराओं से उत्पन्न होता है। एक वह जो योरोप के पश्चिमी महाद्वीप में विकसित हुई, या और ठीक से कहें तो सिर्फ फ्रांस और जर्मनी में। दूसरी धारा इंग्लैण्ड में विकसित हुई जो एक तरह से तो योरोप का ही अंग है पर उससे बिल्कुल ही अलग-थलग।

फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक डेकार्ट को इस नये युग का प्रथम दार्शनिक माना जाता है और उन्होंने चेतना को, या कहें आत्म-चेतना को मूल सत् माना और इसी से सारी और सत्य प्रतीत होने वाली अनुभूत जगत् की सत्यताओं को इसी पर आधारित करने की कोशिश की।

इसके विपरीत ब्रिटिश दार्शनिकों ने जो इन्द्रियों से ग्रहण होता है, उसको ही मूल रूप से सत् माना, और उसी के आधार पर अपना दार्शनिक प्रासाद खड़ा करने की कोशिश की।

डेकार्ट, स्पिनोज़ा और लाइब्नित्ज़ का नाम प्रसिद्ध है जिनमें से एक फ्रांस का निवासी था, दूसरा हॉलैण्ड का और तीसरा जर्मनी का। इसी तरह इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध दार्शनिकों का नाम लॉक, बर्कले और ह्यूम सबको सर्वविदित है।

सबसे अजीब बात तो यह थी कि इतने परस्पर विरोधी प्रस्थान-बिन्दुओं से चलकर भी वे लोग कुछ एक-सी ही जगह पहुँचे। लॉक ने इन्द्रियों से ग्रहण होने वाले गुणों में एक मूलभूत भेद किया जो कि प्राथमिक और द्वितीयक गुणों के नाम से जाना जाता है। इस भेद के अनुसार जो भी अनुभव हमें इन्द्रियों से प्राप्त होता है वो मूल रूप से सत् नहीं है, क्योंकि इन्द्रियों से मिलने वाले रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि सब इन्द्रिय सापेक्ष हैं। इसके विपरीत जो परिमाणात्मक गुण हैं यानि जो हमें गणित की प्रक्रियाओं से प्राप्त होते हैं, वही वास्तव में सत्य हैं। बर्कले ने इस भेद को समाप्त करने की चेष्टा की और कहा कि चाहे गिनकर या नाप कर जो सत्य हमें प्राप्त होता है, और जो रूप, रस, गंध, स्पर्श और इन्द्रियों से प्राप्त होते हैं, उनमें मूल भेद नहीं है।